शिक्षा संवाद
2023, 10 (1): 73-80
ISSN: 2348-5558
©2023, संपादक, शिक्षा संवाद, नई दिल्ली

अनुभव

जूठन

ओमप्रकाश वाल्मीकि

ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा जूठन का आत्मकथांश

...एक रोज हेडमास्टर कलीराम ने अपने कमरे में बुलाकर पूछा, "क्या नाम है बे तेरा?"

"ओमप्रकाश", मैंने डरते-डरते धीमे स्वर में अपना नाम बताया। हेडमास्टर को देखते ही बच्चे सहम जाते थे। पूरे स्कूल में उनकी दहशत थी।
"चूहड़े का है?" हेडमास्टर का दूसरा सवाल उछला।

"जी।"
"ठीक है... वह जो सामने शीशम का पेड़ खड़ा है, उस पर चढ़ जा और टहनियाँ तोड़ के झाड़ बणा ले, पत्तोंवाली झाड़ बणाना। और पूरे स्कूल कू ऐसा चमका दे जैसा सीसा। तेरा तो यो ख़ानदानी काम है। जा फटाफट लग जा काम पे।

हेडमास्टर के आदेश पर मैंने कमरे, बरामदे साफ़ कर दिए, तभी वे ख़ुद चलकर आए और बोले, इसके बाद मैदान भी साफ़ कर दे।"

लंबा-चौड़ा मैदान मेरे वजूद से कई गुना बड़ा था। जिसे साफ़ करने से मेरी कमर दर्द करने लगी थी। धूल से चेहरा, सिर अट गया था। मुँह के भीतर धूल घुस गई थी। मेरी कक्षा में

बाक़ी बच्चे पढ़ रहे थे और मैं झाड़ लगा रहा था। हेडमास्टर अपने कमरे में बैठे थे लेकिन निगाह मुझ पर टिकी हुई थी। पानी पीने तक की इजाज़त नहीं थी। पूरा दिन मैं झाड़ लगाता रहा। तमाम अनुभवों के बीच कभी इतना काम नहीं किया था। वैसे भी घर में भाइयों का मैं लाड़ला था।

दूसरे दिन स्कूल पहुँचा। जाते ही हेडमास्टर ने फिर झाड़ के काम पर लगा दिया। पूरे दिन झाड़ ही देता रहा। मन में एक तसल्ली थी कि कल से कक्षा में बैठ जाऊँगा।
तीसरे दिन मैं कक्षा में चुपचाप जाकर बैठ गया। थोड़ी देर बाद उनकी दहाड़ सुनाई दी। उनकी दहाड़ सुनकर मैं थर-थर काँपने लगा था। एक त्यागी लड़के ने चिल्लाकर कहा, "मास्साब वो बैठा है कोणे में।"

हेडमास्टर ने लपककर मेरी गर्दन दबोच ली। उनकी उँगलियों का दबाव मेरी गर्दन पर बढ़ रहा था। जैसे कोई भेड़िया बकरी के बच्चे को दबोच कर उठा लेता है। कक्षा से बाहर खींच कर उसने मुझे बरामदे में ला पटका। चीख़ कर बोले, "जा लगा पूरे मैदान में झाड़ू..."
भयभीत होकर मैंने तीन दिन पुरानी वही शीशम की झाड़ उठा ली। मेरी तरह ही उसके पत्ते सूख कर झड़ने लगे थे। सिर्फ़ बची थी पतली-पतली टहनियाँ। मेरी आँखों से आँसू बहने लगे थे। रोते-रोते मैदान में झाड़ लगाने लगा। स्कूल के कमरे की खिड़की दरवाज़ों से मास्टरों और लड़कों की आँखें छिप-छिप कर तमाशा देख रही थी। मेरा रोम-रोम यातना की गहरी खाई में लगातार गिर रहा था।

मेरे पिताजी अचानक स्कूल के पास से गुज़रे। मुझे स्कूल के मैदान में झाड़ लगाता देख कर ठिठक गए। बाहर से ही आवाज़ देकर बोले, "मुंशीजी, यो क्या कर रहा है? वे प्यार से मुझे मुंशीजी कहा करते थे। उन्हें देखकर मैं फफक पड़ा। वे स्कूल के मैदान में मेरे पास आ गए। मुझे रोता देखकर बोले, मुंशीजी रोते क्यों हो? ठीक से बोल क्या हुआ है?
मेरी हिचकियाँ बँध गई थीं। हिचक-हिचक कर पूरी बात पिताजी को बता दी कि तीन दिन से रोज़ झाड़ लगवा रहे हैं। कक्षा में पढ़ने भी नहीं देते।

पिताजी ने मेरे हाथ से झाड़ू छीन कर दूर फेंक दी। उनकी आँखों में आग की गर्मी उतर आई थी। हमेशा दूसरों के सामने कमान बने रहने वाले पिताजी की लंबी-लंबी घनी मूँछें ग़ुस्से से फड़फड़ाने लगी थीं। चीख़ने लगे, "कौन सा मास्टर है वो, जो मेरे लड़के से झाड़ू लगवावे है...?"

पिताजी की आवाज़ पूरे स्कूल में गूँज गई थी, जिसे सुनकर हेडमास्टर सहित सभी मास्टर बाहर आ गए थे। कलीराम हेडमास्टर ने गाली देकर मेरे पिताजी को धमकाया। लेकिन पिताजी पर धमकी का कोई असर नहीं हुआ। उस रोज़ जिस साहस और हौसले से पिताजी ने हेडमास्टर का सामना किया, मैं उसे कभी भूल नहीं पाया।

...मेरी माँ मेहनत मज़दूरी के साथ-साथ आठ दस तगाओं (हिंदू-मुसलमान) के घर तथा घेर (मर्दों का बैठक खाना तथा मवेशियों को बाँधने की जगह) में साफ़-सफ़ाई का काम करती थी। इस काम में मेरी बहन, बड़ी भाभी तथा जसवीर और जनेसर (दो भाई) माँ का हाथ बटाते थे। बड़ा भाई सुखवीर तगाओं के यहाँ वार्षिक नौकर की तरह काम करता था। प्रत्येक तगा के घर में दस से पंद्रह मवेशी (गाय, भैंस और बैल) सामान्य बात थी। उनका गोबर उठाकर गाँव से बाहर कुरड़ियों पर या उपले बनाने की जगह पर डालना पड़ता था। प्रत्येक घेर से हर रोज़ पाँच-छह टोकरे गोबर निकलता था। सर्दी के महीनों में यह काम बहुत ही कष्टदायक होता था। गाय, बैल और भैंस को सर्दी से बचाने के लिए बड़े-बड़े दालानों में बाँधा जाता था जिनमें गन्ने की सूखी पाती या फूस बिछा होता था। रातभर जानवरों का गोबर और मूत्र उसी दालान में फैलता रहता था। दस-पंद्रह दिनों बाद एक बार पाती बदली जाती थी या उसके ऊपर सूखी पाती बिछा दी जाती थी। इतने दिनों में दालानों में भरी दुर्गंध से गोबर ढूँढ़-ढूँढ़ कर निकालना बहुत तकलीफ़देह होता था। दुर्गंध से सिर भिन्ना जाता था। इन सब कामों के बदले में मिलता था दो जानवर पीछे फ़सल के समय पाँच सेर अनाज। यानी लगभग ढाई किलो अनाज। दस मवेशी वाले घर से साल भर में 25 सेर (12-13 किलो) अनाज दुपहर के समय हर घर से बची खुची रोटी जो ख़ासतौर पर चूहड़ों को देने के लिए आटे में भूसी मिलाकर बनाई जाती थी। कभी-कभी जूठन भी भंगन की टोकरी में डाल दी जाती थी।

शादी-ब्याह के मौक़ों पर जब मेहमान या बाराती खाना खा रहे होते थे तो चूहड़े दरवाज़े के बाहर बड़े-बड़े टोकरे लेकर बैठे रहते थे। बारात के खाना खा चुकने पर जूठी पत्तलें उन टोकरों में डाल दी जाती थीं, जिन्हें घर ले जा कर वे जूठन इकट्ठा कर लेते थे। पूरी के बचे खुचे टुकड़े, एक-आध मिठाई का टुकड़ा या थोड़ी बहुत सब्जी पत्तल पर पाकर बाँछें खिल जाती थीं। जिस बारात की पत्तलों से जूठन कम-उतरती थी, कहा जाता था कि भुक्खड़ लोग आ गए हैं सारा चट कर गए हैं। अक्सर ऐसे मौक़ों पर बड़े-बूढ़े ऐसी बारातों का ज़िक्र बहुत रोमांचक लहज़े में सुनाया करते थे कि उस बारात से इतनी जूठन आई कि महीनों खाते रहे थे।

पत्तलों से जो पूरियों के टुकड़े एकत्र होते थे उन्हें धूप में सुखा लिया जाता था। चारपाई पर कोई कपड़ा डालकर उन्हें फैला दिया जाता था। अक्सर मुझे पहरे पर बैठाया जाता था क्योंकि सूखने वाली पूरियों पर कौए, मुर्ग़ियाँ, कुत्ते अक्सर टूट पड़ते थे। ज़रा सी आँख बची कि पूरियाँ साफ़, इसलिए डंडा लेकर चारपाई के पास बैठना पड़ता था। ये सूखी पूरियाँ बरसात के कठिन दिनों में बहुत काम आती थीं। उन्हें पानी में भिगोकर उबाल लिया जाता था। उबली हुई पूरियों पर बारीक़ मिर्च और नमक डालकर खाने में मज़ा आता था। कभी-कभी गुड़ डालकर लुगदी जैसा बनाया जाता था, जिसे सभी बड़े चाव से खाते थे। आज जब मैं इन सब बातों के बारे में सोचता हूँ तो मन के भीतर काँटे जैसे उगने लगते हैं। कैसा जीवन था!

दिन-रात मर खप कर भी हमारे पसीने की कीमत मात्र जूठन, फिर भी किसी को कोई शिकायत नहीं। कोई शर्मिंदगी नहीं, कोई पश्चाताप नहीं।
जब मैं छोटा था, माँ के साथ जाता था। माँ-पिताजी का हाथ बँटाने। तगाओं (त्यागियों) के खाने को देखकर अक्सर सोचा करता था कि हमें ऐसा खाना क्यों नहीं मिलता है? आज जब सोचता हूँ तो जी मितलाने लगता है।

अभी पिछले वर्ष मेरे निवास पर सुखदेव सिंह त्यागी का पोता सुरेंद्र सिंह आया था, किसी इंटरव्यू के सिलसिले में। गाँव से मेरा पता लेकर आया था। रात में रुका। मेरी पत्नी ने उसे यथासंभव अच्छा खाना खिलाया। खाना खाते-खाते वह बोला, "भाभी जी, आपके

हाथ का खाना तो बहुत ज़ायक़ेदार है। हमारे घर में तो कोई भी ऐसा खाना नहीं बना सकता है।"

उसकी बात सुनकर मेरी पत्नी तो ख़ुश हुई लेकिन मैं काफ़ी देर तक विचलित रहा। बचपन की घटनाएँ स्मृति का दरवाज़ा खटखटाने लगीं।

सुरेंद्र तब पैदा भी नहीं हुआ था। उसकी बड़ी बुआ यानी सुखदेव सिंह त्यागी की लड़की की शादी थी। उनके यहाँ मेरी माँ सफ़ाई करती थी। शादी से दस-बारह दिन पहले से माँ-पिताजी ने सुखदेव सिंह त्यागी के घर-आँगन से लेकर बाहर तक के अनेक काम किए थे। बेटी की शादी का मतलब गाँवभर की इज़्ज़त का सवाल था। कहीं कोई कमी नहीं रह जाए। गाँवभर की चारपाइयों को ढो-ढोकर इकट्ठा किया था पिताजी ने।

बारात खाना खा रही थी। माँ टोकरा लिए दरवाज़े से बाहर बैठी थी। मैं और मेरी छोटी बहन माया माँ से सिमटे बैठे थे, इस उम्मीद में कि भीतर से जो मिठाई और पकवानों की महक़ आ रही है वह हमें भी खाने को मिलेंगे।

जब सब लोग खा-खाकर चले गए तो मेरी माँ ने सुखदेव सिंह त्यागी को दालान से बाहर आते देखकर कहा, "चौधरी जी, ईब तो सब खाणा खा के चले गए म्हारे जाकतों कू भी एक पत्तल पर धर कू कुछ दे दो! वो बी तो इस दिन का इंतज़ार कर रे ते।" सुखदेव सिंह ने जूठी पत्तलों से भरे टोकरे की तरफ़ इशारा करके कहा, "टोकरा भरके जो जूठन ले जा रही है... ऊपर से जाकतों के लिए खाणा माँग री है। अपणी औक़ात में रह चूहड़ी। उठा टोकरा दरवाज़े से और चलती बन।"...

...उन दिनों मैं नौवीं कक्षा में था। घर की आर्थिक हालत कमज़ोर थी। एक-एक पैसे के लिए परिवार के प्रत्येक सदस्य को खटना पड़ता था। मेरे पास पाठ्य पुस्तकें हमेशा कम रहती थीं। दोस्तों से माँग कर काम चलाना पड़ता था। कपड़ों की भी वही स्थिति थी। जो मिल गया वही पहन लिया। जो वक़्त पर मिला खा लिया, उन दिनों गाँव में मरने वाले पशुओं को उठाने का काम भी चूहड़ों के ज़िम्मे था। जिसके घर में जो काम करता था, उसके मरे हुए पशु भी उसी को उठाने पड़ते थे। इसके बदले कोई मेहनताना या मज़दूरी नहीं मिलती थी। एक गाय, बैल या भैंस को उठाने के लिए चार से छह लोगों की ज़रूरत होती थी। जिसका मवेशी

मर जाता था उसे जल्दी लगी रहती थी। इसीलिए वह बार-बार बस्ती में आकर चिल्लाता था। देर होने पर गालियाँ बकता था। उठाने वालों को इकट्ठा करने में अक्सर देर हो ही जाती थी।

मरे हुए पशुओं को उठाना बड़ा कठिन काम होता है। उसके अगले-पिछले पैरों को रस्सी से बाँध कर बाँस की मोटी-मोटी बाहियों से उठाना पड़ता था। इतने श्रमसाध्य काम के बदले में मात्र गालियाँ...।

कितने क्रूर समाज में रहे हैं हम, जहाँ श्रम का कोई मोल ही नहीं बल्कि निर्धनता को बरक़रार रखने का एक षड्यंत्र ही था यह सब।

मरे हुए पशु की खाल मुज़फ़्फ़रनगर के चमड़ा बाज़ार में बिक जाती थी। उन दिनों एक पशु की खाल बीस से पच्चीस रुपए में बिकती थी। आने-जाने और मरे हुए पशु को उठाने की मज़दूरी देकर मुश्किल से एक खाल के बदले दस-पंद्रह रुपए हाथ में आते थे। तंगी के दिनों में दस-पंद्रह रुपए भी बहुत बड़ी रक़म दिखाई पड़ते थे। चमड़ा ख़रीदने वाला दुकानदार खाल में बहुत मीन-मेख निकालता था। कट-फट जाने पर खाल बेकार हो जाती थी। खाल को निकालते ही उस पर नमक लगाना पड़ता था, वरना दूसरे दिन ही खाल ख़राब हो जाती थी, जिसे दुकानदार ख़रीदने से मना कर देता था।

एक रोज़ ब्रह्मदेव तगा का बैल खेत से लौटते समय रास्ते में गिर पड़ा। उठ नहीं पाया, मर गया। कुछ ही देर बाद ब्रह्मदेव ने हमारे घर ख़बर कर दी थी। पिताजी और मुझसे बड़े भाई जनेसर उस रोज़ किसी रिश्तेदारी में गए थे। घर पर माँ, मेरी बहन माया, और सब से बड़ी भाभी देवी ही रहती थी। जसवीर उन दिनों देहरादून में था मामा के पास।

माँ परेशान हो गई थी। बैल की खाल उतारने किसे भेजे बस्ती में एक-दो लोग थे लेकिन कोई भी उस समय जाने को तैयार नहीं था। माँ ने चाचा से बात की। वे तैयार हो गए थे। लेकिन उनके साथ किसी को जाना चाहिए। अकेले वे खाल नहीं उतार पाएँगे।

मैं उस समय स्कूल में था। माँ ने थक-हार कर मुझे ही बुला लिया। माँ नहीं चाहती थी कि वह काम मुझे करना पड़े लेकिन खाल बेचकर जो दस-पंद्रह रुपए मिलने वाले थे, उन्हें छोड़ पाने

की स्थिति में माँ नहीं थी। हार कर माँ ने मुझे चाचा के साथ भेज दिया। मेरे चाचा, सोल्हड़ महाकामचोर थे बस, सारा दिन ढोल ताशों में लगे रहते थे, मेहनत के काम से कतराते थे। माँ को फ़िक्र लगी थी कि कहीं हमारे पहुँचने से पहले ही बैल पर गिद्ध या जंगली जानवर न टूट पड़ें।

चाचा ने खाल उतारनी शुरू की। मैं उनकी मदद कर रहा था। चाचा का हाथ धीरे-धीरे चल रहा था। पिताजी जैसी कुशलता उनमें नहीं थी। थोड़ी देर बाद वे थक कर बीड़ी पीने बैठ गए। चाचा ने एक छुरी मेरे हाथ में पकड़ा दी। बोले, धीरे-धीरे खाल उतारो। अकेले से तो शाम तक नहीं उतरेगी।

छुरी पकड़ते ही मेरे हाथ काँप रहे थे। अजीब से संकट में फँस गया था। चाचा ने छुरी चलाने का ढंग सिखाया। उस रोज़ मेरे भीतर बहुत कुछ था जो टूट रहा था। चाचा की हिदायत पर मैंने बैल की खाल उतारी थी। मैं जैसे स्वयं ही गहरे दलदल में फँस रहा था। जहाँ से मैं उबरना चाहता था। हालात मुझे उसी दलदल में घसीट रहे थे। चाचा के साथ तपती दुपहरी में जिस यातना को मैंने भोगा था आज भी उसके ज़ख़्म मेरे तन पर ताज़ा हैं।

जैसे-जैसे खाल उतर रही थी मेरे भीतर का रक्त जम रहा था। खाल उतारने में हमें कई घंटे लग गए थे चाचा ने खाल को ज़मीन पर फैला दिया। उस पर लगे ख़ून को सूखी ज़मीन ने सोख लिया था।

चाचा ने खाल को चादर में बाँध दिया था। गठरी उठाकर सर पर रख ली थी। लगभग दो मील की दूरी पर हमारा घर था। बोझ के कारण चाचा को तेज़ चलना पड़ रहा था। मैं हाथ में छुरी पकड़ उनके पीछे-पीछे लगभग दौड़ता जाता था। बसेड़ा जाने वाली पक्की सड़क से हम लोग बस अड्डे के पास पहुँच गए थे। गठरी सिर से उतार कर चाचा ने ज़मीन पर रख दी थी। "यहाँ से आगे तुम ले जाओ, मैं थक गया हूँ।"

उस रोज़ मैंने चाचा से बहुत कहा लेकिन वे नहीं माने। "चाचा बस अड्डे की भीड़ पार करा दो, मेरे स्कूल की छुट्टी का समय है। मेरे स्कूल के सभी साथी यह ले जाते हुए देखेंगे तो वे स्कूल में मुझे तंग करेंगे। मैंने गिड़गिड़ा कर रुआँसी आवाज़ में चाचा से कहा था। किंतु

वे नहीं पसीजे। गठरी उठाकर मेरे सिर पर रख दी। गठरी का वज़न मेरे वज़न से ज़्यादा था। मज़बूरन उठाकर चलना पड़ा। बस अड्डे की परिचित भीड़ से मैं उस रोज़ जिस तरह से निकला, मेरा ही मन जानता है। एक भय लगातार मेरा पीछा कर रहा था कोई देख न ले। कोई सहपाठी न मिल जाए। अगर कोई पूछ बैठेगा तो क्या बताऊँगा?
घर तक पहुँचते-पहुँचते मेरी टाँगें जवाब दे गई थीं। लग रहा था कि अब गिरा। गाँव के किनारे-किनारे चलकर, लंबा चक्कर काटा था, बस्ती तक पहुँचने के लिए।

मुझे उस हालत में देखकर माँ रो पड़ी थी। मैं सिर से लेकर पाँव तक गंदगी से भरा हुआ था। कपड़ों पर ख़ून के धब्बे साफ़ दिखाई दे रहे थे। बड़ी भाभी ने उस रोज़ माँ से कहा था, "इनसे ये न कराओ...भूखे रह लेंगे... इन्हें इस गंदगी में ना घसीटो!" भाभी के ये शब्द आज भी मेरे लिए अँधेरे में रोशनी बन कर चमकते हैं। मैं उस गंदगी से बाहर निकल आया हूँ लेकिन लाखों लोग आज भी उस घिनौनी ज़िंदगी को जी रहे हैं।

*****

स्रोत : रचनाकार : ओपप्रकाश वाल्मीकि प्रकाशन : एन.सी. ई.आर.टी